हिंदी साहित्य, समाज और 1857



प्रफुल्ल कोलख्यान

1857 की आवाज फिर से तेज हो रही है। 1857 में शोर है। 1857 में आर्त्तनाद है। 1857 में संगीत भी है। 1857 एक अनसुलझी हुई गुत्थी है। जब कभी पुरबैया गति पकड़ती है 1857 की सिसकी चीख में बदलने लगती है। 1857 को नहीं समझा गया तो हिकारत से 'बीमारू' कही जानेवाली हिंदी पट्टी को समझना संभव नहीं होगा। पूरी हिंदी पट्टी 1857 की घायल जमीर है। हिंदी पट्टी को हिकारत से देखते हुए भारत को समझ लेने का दावा करनेवाले कितने भोले हैं! आज जब धीरे-धीरे उदारीकरण-भूमंडलीकरण-निजीकरण का जानमारा दबाव बढ़ रहा है, इससे मुकाबला करने के लिए भारत को नये सिरे से समझना जरूरी है, भारत को समझने के लिए हिंदी पट्टी को भी समझना जरूरी है। 1857 के दर्द को समझे बिना हिंदी पट्टी के मर्म को समझना मुश्किल है। क्या हिंदी

साहित्य को इस नजरिये से देखना जरूरी नहीं है! यह सवाल आप से नहीं, अपनेआप है!

इतिहासबोध और 1857 का महत्त्व

इतिहास में सन 1857 का अपना महत्त्व है। 1857 को भारत के प्रथम स्वतंत्रता संग्राम के रूप में याद किया जाता है, यह उचित भी है। लेकिन 1857 को सिर्फ भारत का अंदरूनी मामला मानकर विचार करना इतिहास विवेक को खंडित करता है। जिस प्रकार कई-कई राजनीतिक और प्राकृतिक सीमांकनों एवं विस्मयकारी विविधताओं के बावजूद सृष्टि खंडित इकाई नहीं है, उसी प्रकार इतिहास भी खंडित इकाई नहीं है। मनुष्य की प्रेरणाओं के महान स्रोत अनंत, अव्याख्येय एवं कई बार अनुद्घाटित होते हैं। हालाँकि यहाँ इस दिशा में विस्तार की गुंजाइश नहीं है, तथापि यह ध्यान में ले आना बहुत आवश्यक है कि तीव्र मशीनीकरण और औद्योगीकरण, जिसे औद्योगिक क्रांति भी कहा जाता है, का साक्षी होने के कारण भी 1857 बहुत महत्त्वपूर्ण है। ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति से तो इसका सीधा और गहरा संबंध है। जिस प्रकार पूँजीवादी लाभ के महालोभ से महामंदी और महामंदी से महायुद्धों/ विश्वयुद्धों का गहरा संबंध है उसी प्रकार ब्रिटेन की औद्योगिक क्रांति की जरूरतों को पूरा करने के लिए भारतीय संभावनाओं के भयानक शोषण से भी 1857 का गहरा संबंध है। क्या 1215 के मैग्नाकार्टा में अभिव्यक्त मानवीय आकांक्षा से 1789 की फ्रांसिसी क्रांति के महान उद्देश्यों का कोई संबंध नहीं है? इतिहास की इन महान घटनाओं का 1857 में निहित मानव-मुक्ति की महान चेष्टाओं से कोई संबंध नहीं है? संबंध है और गहरा संबंध है। तो फिर यह कैसे हो सकता है कि 1857 के प्रभाव और प्रेरणा से 1917 का कोई संबंध बिल्कुल ही न हो! इन संबंधों की योजकताओं को जानबूझकर या अनजाने में खंडित और उपेक्षित किया गया है।

इतिहास और इतिहास-लेखन को एक ही समझ लेने के कारण कई तरह की बौद्धिक असुविधा और दुविधा उत्पन्न होती है। बहुत ही सावधानीपूर्वक कहना जरूरी है कि इतिहास में सभी महान चेष्टाएँ प्रभावकारी होती हैं — उन्हें सफल और विफल के रूप में आकलित करने की कोशिश राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा है, इतिहास लेखन की प्रक्रिया का नहीं। यह भी ध्यान में रखना आवश्यक है कि इतिहास पर ही नहीं इतिहास-लेखन पर भी राजनीति की गहरी पकड़ होती है। अपने अधिकांश में इतिहास लेखन की प्रक्रिया राजनीतिक प्रक्रिया की अधीनस्थ कार्रवाई है। इतिहास लेखन की इस ऐतिहासिक अधीनस्थता को समझने से यह बात ठीक से साफ हो पायेगी क्यों इतिहास-लेखन विजेता के प्रभावों के बहिर्मुखी प्रसार और पराजितों के प्रभाव को अंतर्मुखी संकोचन की प्रक्रिया के

अंतर्गत होने को अनिवार्य मानकर चलता है; यह अनिवार्यता इतिहास की नहीं इतिहास-लेखन की विवशता है। क्या जीतनेवाला ही पराजित को बदलता है? हारनेवाला विजेता को जरा भी नहीं बदलता! मानवीय दृष्टि जय-पराजय की मायावी रंग कुहेलिकाओं से बाहर आकर बदलाव को समझने की कोशिश करती है। 1857 का प्रभाव भारत के अंदर कैसा पड़ा इसे ठीक से समझने के लिए भारत के बाहर पड़े उसके प्रभाव को आकलित करना जरूरी है। इस तरह के आकलन का अभाव 1857 की हमारी समझ को अधूरा बनाता है।

दुनिया बदलती रहती है। इतिहास की जटिल प्रक्रियाओं में इन बदलावों के सूत्र उलझे होते हैं। जोर देकर कहना होगा कि 1857 भारतीय जीवनानुभव का सार लेकर उपस्थित हुआ था। 1857 के प्रिज्म को ठीक से स्थित किये जाने से अपने इतिहास की कई जटिलताओं और वक्रताओं तथा सामाजिक गुत्थियों को समझने में तो मदद मिलेगी ही वर्त्तमान की कई भंगिमाओं को भी समझने में बहुत हद तक मदद मिल सकती है। भारतीय इतिहास के विद्यार्थियों के सामने 1857 की सफलता-विफलता को लेकर परेशानी में डालने वाला सवाल खड़ा किया जाता है। कम-से-कम इतिहास के मामले में सही उत्तर नहीं दे पाना उतना खतरनाक नहीं होता है जितना कि किसी गलत सवाल के सामने बार-बार खड़ा कर दिया जाना। गलत सवाल के सामने खड़ा कर दिया जाना, कभी-कभी गैरइरादतन भी हो सकता है, लेकिन सदैव नहीं। चूँकि, इतिहास और राजनीति के प्रणतंतु अनन्यत: जुड़े हुए होते हैं, इसलिए इरादतन के साथ-साथ इन गैरइरादतन स्थितियों के भी खतरनाक राजनीतिक परिणाम होते हैं। इस तरह के खतरों से बचने के लिए जहाँ इतिहास के सवालों के सही जवाब की तलाश जरूरी है, वहीं गलत सवालों से भी बचने की जरूरत है।

क्या 1857 महज सिपाही विद्रोह था

इतिहास की सुनें तो 1857 की घटना महज सिपाही विद्रोह नहीं थी। 1854 से ही इस विद्रोह की तैयारी शुरू हो गई थी। इस विद्रोह के मूल के कारणों को सिर्फ कारतूस से जोड़ना गलत है। कारतूस के कारण तात्कालिक रूप से विद्रोह जरूर भड़का था, लेकिन कारतूस ही असली और एकमात्र कारण नहीं था। फिर, वे कौन-से कारण थे जिन्होंने इस देश के विभिन्न वर्गों को फिरंगियों को भगाने के संग्राम के मैदान में उतार दिया था? 'इसका प्रधान कारण फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा थी।'[1] इसकी तैयारी सोच-समझकर की जा रही थी और 31 मई रविवार का दिन तय किया गया था। कारतूस प्रकरण से 'बैरकपुर स्थित 34वीं देशी पलटन भी विद्रोह के पक्ष में सम्मति दे चुकी थी। मंगल पांडे इसी पलटन के सिपाही थे। यह पलटन 19वीं पलटन (कारतूस में हाथ लगाने से इनकार करने और बगावती रुख अख्तियार करने के कारण 21 मार्च 1857 को तोड़ दी गई थी।) के अपमान को बरदाश्त करना न चाहती थी, किंतु नेताओं ने इंतजार

करने का आदेश दिया।'[2] नेताओं, और ये सभी नेता फौजी नहीं थे, की मनाही के बावजूद मंगल पांडे ने निर्धारित समय से पहले 29 मार्च 1857 के पैरेड के समय क्रांति की पहली गोली दाग दी। हालाँकि, दूसरे सिपाही नेताओं ने मंगल पांडे का रास्ता तत्काल अख्तियार नहीं किया लेकिन, अंतत: 31 मई तक का इंतजार भी नहीं किया जा सका। स्थिति तेजी से बदलती जा रही थी। अंतत: फैसला बदलते हुए दिल्ली समाचार भेजा गया कि 'हम ग्यारह या बारह मई को दिल्ली पहुँच रहे हैं, स्वागत के लिए तैयार रहो।'[3] भारत में राष्ट्रबोध के उभार का गहरा संबंध 1857 से है। देखना दिलचस्प होगा कि 1857 में उभरे राष्ट्रबोध का चरित्र कैसा था।

अंग्रेज देशी सेना पर पूरी तरह भरोसा तो कर ही नहीं सकते थे। सामान्यत: नागरिकों के एक हिस्से को लेकर ही सेना संगठित की जाती है। अपने नागरिकों को लूटने पर लगी सत्ता को न तो नागरिकों पर और न ही नागरिकों के एक अंश को लेकर गठित सेना पर ही कोई भरोसा करना चाहिए। असल में, 'देशी सेना की सृष्टि कर ब्रिटिश शासन ने साथ ही साथ प्रतिरोध का ऐसा प्रथम साधारण केंद्र संगठित कर दिया जैसा भारतीय जनता के हाथ में कभी न था। ....यह पहली मर्तबा है कि देशी फौजों ने अपने यूरोपीय अफसरों को मार डाला है, कि 'हिंदुओं से आरंभ होनेवाली अशांति की परिणति दिल्ली के राजसिंहासन पर एक मुसलमान सम्राट का आरेहण हुआ है' कि बगावत सिर्फ कुछ स्थानों तक ही सीमित नहीं है; और अंतिम यह कि आंग्ल भारतीय सेना का विद्रोह उस वक्त हुआ है जबकि अंग्रेजों के प्रभुत्व के खिलाफ महान एशियाई राष्ट्र आम असंतोष प्रकट कर रहे हैं, बंगाल सेना के विद्रोह का गहरा संबंध फारस और चीन के युद्धों से है। (कार्ल मार्क्स, न्यूयार्क डेली ट्रिव्यून में 15 जुलाई 1857 को प्रकाशित 'भारतीय सेना में विद्रोह' शीर्षक लेख में)[4]। 1857 के तात्कालिक लक्ष्यों के बारे में इतिहास के साक्ष्य साफ-साफ संकेत करते हैं कि मुगल बादशाह को फिर से सत्तासीन करना इसकी मूल आकांक्षा थी और इस तात्कालिक लक्ष्य के लिए जनता की अनिवार्य एकता के रास्ते में किसी के हिंदु, मुसलमान या किसी भी धर्म-संप्रदाय के होने से कोई बाधा नहीं थी। इससे एक निष्कर्ष बहुत साफ-साफ हासिल होता है कि हमारे राष्ट्रवाद के प्रथम उभार के मूल में धर्म-संप्रदाय से निरपेक्ष रहते हुए आर्थिक आजादी के लिए संघर्ष करना एक महत्त्वपूर्ण राजनीतिक लक्षण और संदेश था। इससे यह भी स्पष्ट है कि 1857 के मूल आशय में किसी जनतांत्रिक सत्ता की स्थापना की मनोकामना तो नहीं थी लेकिन क्षेत्रीय स्वायत्तता के सम्मान का आश्वासन अवश्य था। 1857 की घटना से एक ओर जहाँ संस्कृति के मूल उपादान में आधुनिक चेतना के लिए जगह बनने लगी वहीं पौराणिक कथाओं और किंवदंतियों के लोक संस्करण जन प्रेरणा के स्रोत बनने लगे। हिंदी साहित्य में परंपरा और प्रगति के अंतर्स्संबंध को समझने के लिए भारत के राष्ट्रबोध में सन्निविष्ट आधुनिक चेतना के प्रभाव और पौराणिक कथाओं के लोक संस्करण की जन प्रेरणा के

अंतर्मिलानी रसायनों को समझना जरूरी है। आधुनिक हिंदी साहित्य और साहित्यकारों का बांग्ला के उस समय के आधुनिक साहित्य और साहित्यकारों से गहरा रचनात्मक और प्रेरक संपर्क रहा है। इसलिए आधुनिक हिंदी साहित्य के प्रारंभ और विकास को ढंग से समझने के लिए जरूरी हो जाता है, बंगाल के नवजागरण के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्वों और बंगाल के तत्कालीन भद्रलोक नव-बौद्धिकों का 1857 के प्रति नजरिया। जब 1857 के सिपाहियों को सजा दी जा रही थी, पूरे हिंदी प्रदेश के लोगों, जिसे बंगाल में ठीक ही हिंदुस्तानी कहा जाता है, को तत्कालीन शासन तरह-तरह से उत्पीड़ित-प्रतिबंधित कर रहा था तब नवजागरण के महत्त्वपूर्ण व्यक्तित्व और बंगाल के तत्कालीन भद्रलोक नव-बौद्धिक क्या कर रहे थे! लाला लल्लू लाल और सदल मिश्र से शुरू हुई खुद हिंदी की इस वाग्धारा में 1857 की छाप कैसी है और लोक, हिंदी लोक, में 1857 की अनुगूँज मुख्य धारा के साहित्य में क्यों अदृश्य और अश्रव्य हो गयी! सुभद्रा कुमारी चौहान या मनोरंजन प्रसाद सिंह जैसे कतिपय कवियों के संदर्भ से बात टाली नहीं जा सकती है, क्या कहते हैं! महानता की स्वीकार्यता और पूजनीयता की वरेण्यता की ऐतिहासिक पद्धतियों और जातीयताओं के गठन की सामाजिक-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रियाओं को साहित्यिक आलोचना का विवेक क्या एक ही तरह से और एक ही समझेगा?

फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा 1857 के महाविद्रोह के पीछे प्रधान कारण थी। फिरंगियों की लूट और धन बटोर कर ब्रिटेन ले जाने की लालसा से लोगों की क्रय क्षमता में भारी गिरावट आ जाने के कारण बार-बार अकाल पड़ने लगे थे। जी हाँ, 'ब्रिटिश पूँजीपतियों के इस शोषण से हिंदुस्तान में बार-बार अकाल पड़ने लगे। 19वीं सदी के पूर्वार्द्ध में सात बार अकाल पड़ा, जिसमें कुल लगभग 15 लाख आदमी मरे। लेकिन इसी सदी के उत्तरार्द्ध में 24 बार अकाल पड़ा, जिसमें खुद सरकारी आँकड़ों के अनुसार कुल दो करोड़ आदमी मरे।'[5] अकाल कैसे पड़ते हैं? 'खाद्य उत्पादन या उसकी सुलभता में कमी आये बिना भी अकाल पड़ सकते हैं। सामाजिक सुरक्षा/ बेरोजगारी बीमा आदि के अभाव में रोजगार छूट जाने पर किसी भी मजदूर को भूखा रहना पड़ सकता है। यह बहुत आसानी से हो सकता है। ऐसे में तो खाद्य उत्पादन एवं उपलब्धता का स्तर उच्च होते हुए भी अकाल पड़ सकता है।'[6] अर्थात, जरूरी नहीं कि अकाल हमेशा अभाव से ही उत्पन्न हों। 1857 अकाल का भी प्रत्याख्यान था। यह सच हो सकता है कि 1857 के आंदोलन में परिकल्पित सफलता के बाद की आर्थिक योजनाएँ बहुत साफ नहीं थी या थी ही नहीं, इसके बावजूद दूसरा महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष यह निकलता है कि भारतीय राष्ट्रवाद के उभार में 'अकाल के प्रत्याख्यान' के रूप में राष्ट्र के आर्थिक शोषण का विरोध काम कर रहा था। आज भी आर्थिक-वृद्धि दर के संतोषजनक होने के बावजूद हमारा राष्ट्र लगातार अकाल की ओर बढ़ रहा है। कहना न होगा कि अकाल आजादी को पूरी तरह से सोख लेने के बाद प्रकट होता है। 1857 की घटना के कारण के रूप में चिह्नित होकर अकाल ने देर-सबेर इस निष्कर्ष को भी

पुष्ट किया कि उत्पादन और उपभोग के अवसरों के संबंधों को सीधी-सरल रेखा में नहीं समझा जा सकता है। हिंदी साहित्य में जन अधिकारों के लिए दिखनेवाले मूल्य-संघर्ष का एक पहलू उत्पादन और उपभोग के अवसरों की वक्रताओं से संबद्ध है। अपनी कतिपय त्रुटियों और कमियों के बावजूद आधुनिक एवं धर्म-निरपेक्ष आर्थिक राष्ट्र के रूप में भारत के पुनर्गठन को 1857 ने महत्त्वपूर्ण आधार प्रदान किया। 1857 ने हमारे राष्ट्रबोध को नया क्षितिज प्रदान किया। इसलिए, हमारे राष्ट्रवाद के मूल चरित्र में धर्म-निरपेक्षता और आर्थिक विकास की आकांक्षा बुनियादी तत्त्व रहे हैं।

1857 के बाद जो हुआ

अंग्रेजों ने 1857 के बाद भाँप लिया कि भारत में बेरोक-टोक लूट का करोबार निरापद ढंग नहीं चल सकता है। भारत की राजनीतिक स्थिति के साथ ही इंगलैंड की राजनीतिक स्थिति के कारण कंपनी का शासन समाप्त हुआ और शासन की डोर ब्रिटेन की संसद के हाथ में चला गई। इस तरह 1857 की आकांक्षा के अनुसार शासन भारतीयों के हाथ में तो नहीं आया लेकिन कंपनी का शासन भी टिक नहीं पाया। ब्रिटेन की संसद के शासन के अंतर्गत भारत के आ जाने के कारण भारत का शासन, अप्रत्यक्ष रूप से ही सही, जनतांत्रिक-राजनीतिक प्रक्रिया का हिस्सा बन गया।

इस तरह, 1857 का राजनीतिक संदेश बहुत प्रखर रहा है। 1857 का संदेश, अर्थात धर्म-निरपेक्ष आर्थिक राष्ट्र के रूप में भारत के पुनर्गठन का संदेश। औपनिवेशिक शक्ति के लिए इस राजनीतिक संदेश की प्रखरता को कम और धूमिल करना आवश्यक था। अब वे इस बात को अधिक साफ ढंग से समझ रहे थे कि भारत पर अपने शासन को कायम रखने के लिए भारत के राजबाड़ों के बीच फूट के बीज डालना काफी नहीं है, बल्कि असल काम तो जनता के बीच वैमनस्य को बढ़ाने और फूट डालने का है। भारतीय जनता की एकता और विविधता के तत्त्व उसकी सांस्कृतिक संरचना में निहित हैं। औपनिवेशिक दिमाग ने समझ लिया कि भारतीयता की एकता को तोड़ने के लिए विविधता को विच्छिन्नता में बदलना जरूरी है। विविधता को विच्छिन्नता में बदलना सिर्फ राजनीतिक प्रक्रिया से संभव नहीं था; इसके लिए सांस्कृतिक स्तर पर नकारत्मक सक्रियता की जरूरत थी। राजनीतिक तौर पर फिर से अपना पाँव जमा चुकने के बाद अंग्रेजी राज ने 1859 के बाद भारत में सांस्कृतिक स्तर पर नकारत्मक सक्रियता को बरतना शुरू किया। यह उनके लिए चुनौती भरा था क्योंकि सांस्कृतिक स्तर पर भारत नये सिरे से सक्रिय था। ‘1860 और 1870 के दशकों में बंगाल में विपुल काव्य और गीत साहित्य रचा गया जिसमें देश की दुर्दशा और कभी-कभी तो प्रत्यक्षत: हस्तकौशलों के पतन पर विलाप किया गया था। ...नया-नया स्थापित हुआ रंगमंच तो और भी अधिक ब्रिटिश-विरोधी था जिसने नील की खेती करनेवालों की दशा का चित्रण करनेवाले दीनबंधु मित्र के नाटक नीलदर्पण (1860) से लेकर 1870 के दशक तक

अन्य अनेक ऐसे नाटक मंचित किये कि लिटन को 1876 में ड्रामेटिक परफार्मेंसेज एक्ट लाना पड़ा।'[7] इस एक्ट के लागू होने के बाद सांस्कृतिक वातावरण में तेजी से बदलाव आने लगा। 1857 की राजनीतिक लाइन और कमजोर पड़ती चली गई साथ ही सांस्कृतिक स्तर पर नकारात्मक सक्रियता अधिक सुनियोजित एवं शक्तिशाली होती चली गई। धर्म-संप्रदाय के साथ क्षेत्रीयता का तत्त्व भी अंग्रेजों के लिए नया हथियार बनने लगा था। अब वे समझ चुके थे कि '... हुकूमत करनेवाले यह नहीं देखते कि प्रजा में कौन-सी समानता पायी जाती है, उनकी दिलचस्पी तो यह देखने में होती है कि वे किन-किन बातों में एक-दूसरे से अलग हैं।'[8] और अपनी इस समझ को जब वे राजनीतिक रूप से इस्तेमाल करने लगे तब पढ़े-लिखे लोगों की मानसिकता बदलने लगी, न सिर्फ बदलने लगी बल्कि 1857 की मूल-भावना के विपरीत और विरुद्ध होने लगी। औपनिवेशिक वातावरण में विकसित दूसरे चरण का हमारा राष्ट्रवाद अपने दुश्मन के रूप में अंग्रेज को नहीं मुसलमान को खड़ा करने लगा। दूसरे चरण का यह राष्ट्रवाद, 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' था। 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' की 'इस धारणा के अनुसार हमें अंधकारपूर्ण मध्य युग से ब्रिटिश शासन ने ही मुक्ति दिलाई थी क्योंकि इसी के साथ पुनर्जागरण अथवा बौद्धिक उत्थान आया था।'[9] इसे 'बिपिनचंद्र ने सही तौर पर 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' कहा है और कभी-कभी जिसका औचित्य यह कहकर सिद्ध किया जाता है कि खुलेआम अंग्रेजी सत्ता के खिलाफ लिखना खतरनाक हो सकता था (उदाहरण के लिए बंकिमचंद्र का सरकारी नौकरी में होना)।'[10] अपने को 'खतरे' से बचाने के लिए पूरे राष्ट्र को खतरे में डाल देने का मामला क्या इतना सरल है! जो हो, 'स्वदेशी से संबद्ध युवा वर्ग 1905 के बाद से बंकिमचंद्र को देवता मानने लगा था।'[11] प्रसंगवश इतना स्मरण कर लेना जरूरी है कि शत्रु-देश के सेनापति की तरह भारत को भीतर से कुछ हद तक जानने, 'आनंदमठ' (1882) की अपार लोकप्रियता के प्रति आश्वस्त होने और सेफ्टी वॉल्व के रूप में अखिल भारतीय राष्ट्रीय काँग्रेस (1885) के संतोषजनक ढंग से काम करने के आकलन, के बाद ही 1905 में बंगाल के सांप्रदायिक विभाजन को सफल करने का साहस और शक्ति शासक वर्ग जुटा पाया होगा। अकारण नहीं है कि 'स्वदेशी से संबद्ध युवा वर्ग 1905 के बाद से बंकिमचंद्र को देवता मानने लगा था।' क्योंकि इस देवता का उपन्यास 'आनंदमठ' (1882) में आया था और 1905 तक आते-आते इसने 1857 के पूरे संदेश को पलटकर रख दिया। यह सब कैसे हुआ! भारतीय इतिहास की विडंबना ही है कि जिस बंगाल में 'सबार ऊपरे मानुष' के सांस्कृतिक उद्घोष के साथ जीवन की महिमा स्थापित हुई, उसी बंगाल में जीवन को 'तुच्छ' कहने का राजनैतिक दुस्साहस भी सांस्कृतिक माध्यम से सामने आया! अब 'जरा देर बाद फिर आवाज हुई, फिर उस निस्तब्धता को मथ कर मनुष्य का शब्द सुनाई दिया (मेरी मनोकामना क्या पूरी नहीं होगी? इस तरह से वह अंधकार का समुद्र तीन बार आलोड़ित

हुआ। तब उत्तर मिला, तुम्हारा न्योछावर क्या है? उत्तर मिला, जीवन सर्वस्व। प्रतिउत्तर मिला, जीवन तुच्छ है, सभी दे सकते हैं। तो और है क्या? क्या दूँ? उत्तर मिला— भक्ति।'[12] भक्ति किसके प्रति? इसका उत्तर आज भी प्रतीक्षित है। इतिहास बताता है कि 'बंकिमचंद्र का सरोकार मूलत: बंगाल के इतिहास से था। वे बारंबार यही दोहराते रहे कि बंगाल ने अपनी स्वाधीनता बख्तियार खिलजी के कारण खोई थी, पलासी की लड़ाई में नहीं।'[13] विडंबना यह भी है कि जिस व्यक्ति का सरोकार मूलत: भारत के एक क्षेत्र विशेष (बंगाल) से था, वह भारत के राष्ट्रवाद का उन्नायक बन गया! वस्तुत: यह राष्ट्रवाद नहीं औपनिवेशिक दबाव में उत्पन्न और औपनिवेशिक आकांक्षाओं को पूरा करनेवाला स्थानापन्न राष्ट्रवाद था। इस स्थानापन्न राष्ट्रवाद ने असली राष्ट्रवाद को अपदस्थ एवं स्थगित कर दिया, इससे आजादी की माँग अपना मूल चरित्र खोकर तदर्थ आजादी की माँग में बदल गई। इस प्रकार 'मनोकामना' पूरी हुई! भारतीय राष्ट्र के जीवन में इससे बड़ी अन्य किस दुर्घटना का उल्लेख किया जा सकता है!

1857 की घटना ने अपनी तथाकथित विफलता के बावजूद पूरी दुनिया को चकित कर दिया था। 1857 के कारण भारत के प्रति दुनिया का नजरिया और व्यवहार भी बदला था। शासकों ने महसूस किया कि भारत को सही अर्थ में जानना जरूरी है। भारत को नहीं जानने के कारण हुई गलतियों के कारण ही 1857 हुआ। शासकों ने शासन की सुविधा के लिए नये सिरे से भारत को जानने का उपक्रम किया। रामशरण शर्मा 'ए हिस्टरी ऑफ एंशिएंट संस्कृत लिटरेचर : मैक्समूलर' के हवाले से कहते हैं कि यद्यपि 1784 ई. में रॉयल एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल की स्थापना के समय से ही प्राचीन भारतीय ज्ञान की ओर पाश्चात्यों की अभिरुचि जगी, फिर भी 1859 तक प्रकाशित पुस्तकों की संख्या कम ही थी। वे यह भी कहते हैं कि 'पाश्चात्य और भारतीय विद्वानों ने भी भारत के अतीत के अध्ययन का प्रथम गंभीर प्रयास 1857-59 के विद्रोह के बाद ही आरंभ किया। सैक्रेड बुक्स ऑफ दि ईस्ट की कुछेक भूमिकाओं के अवलोकन से प्रकट होता है कि वर्षों तक चलनेवाले इस महान कार्य के पीछे कौन-सी प्रेरणा काम कर रही थी। ब्रिटिश शासकों ने महसूस किया कि यह विद्रोह भारतीय धर्म, रीति-रिवाजों और इतिहास से उनकी अनभिज्ञता के कारण हुआ। उन्हें यह भी लगा कि जब तक मिशनरियों को भारतीय सामाजिक ढाँचे की कमजोरियों का पता नहीं चलेगा तब तक यहाँ के लोगों के मन में ईसाई धर्म के प्रति और उसके माध्यम से साम्राज्य के प्रति श्रद्धा नहीं जगाई जा सकती। मैक्समूलर के अनुसार ईसाई धर्मप्रचारकों के लिए भारतीय धर्मग्रंथों का सही ज्ञान प्राप्त करना उतना ही अनिवार्य था जितना किसी सेनापति के लिए शत्रु देश की जानकारी हासिल करना होता है। 'ध्यान रहे वे शत्रु देश की जानकारी हासिल करनेवाले चतुर सेनापति' की तरह भारत को जानने की कोशिश कर रहे थे और इधर हाकिमों से, अर्थात प्रभु-वर्ग— यह प्रभु-वर्ग मूलतः स्वदेशी-विदेशी शासक और देशी

पूँजीपतियों के ऐतिहासिक संश्रय से बना था— से 'मेल-जोल' बनाये रखने की प्रवृत्ति गाँधी-विचार में भी सक्रिय थी और नवजागरण में भी सक्रिय थी। यह सच हो सकता है कि 1857 का आर्थिक दृष्टिकोण बहुत साफ नहीं था। 1857 की मंशा सफल हो जाने पर भारत के इतिहास का ऐसा विकास शायद नहीं होता। लेकिन यह सब अनुमान का विषय है, और इस अनुमान के इस क्षेत्र में कल्पना के लिए खुलकर खेलने का अवसर है। अपने-अपने संतोष के लिए सुविधा के निष्कर्ष तब भी निकाले गये थे और आज भी निकाले जाते हैं। लेकिन 1857 के सकारकत्मक पक्ष को भारतीय स्वतंत्रता आंदोलन की मुख्य-धारा ने पूरी तरह से विपथित कर दिया; अंततः द्विराष्ट्रीयता की अवधारणणा और देश-विभाजन का गहरा संबंध भी इस विपथन से स्वीकारना ही होगा। दुहराव का दोष स्वीकारते हुए भी कहना जरूरी है कि इस विपथन में 'नवजागरण' के बड़े अंश का भी योगदान था। यह भी जोर देकर कहना होगा कि हाकिमों से, अर्थात प्रभु-वर्ग से 'मेल-जोल' बनाये रखने की प्रवृत्ति गाँधी-विचार में भी सक्रिय थी और नवजागरण में भी सक्रिय थी। यह मेल-जोल का जादू आज भी हमारी व्यवस्था के अंतःकरण में सक्रिय है, इससे बहुतेरे काम पूरे होते हैं। इस मेल-जोल से क्या होता है? वैसे, प्रेमचंद के गोदान में, धनिया से कहता तो होरी है लेकिन देखा जाये तो यह भारतीय स्वतंत्रता संघर्ष के भीतर गूँजती हुई इतिहास की अनुगूँज है। यह अनुगूँज भ्रम भी हो सकती है इसलिए इस पर ठहरकर सोचने की जरूरत है। फिलहाल, होरी का कथन: 'यह इसी मिलते-जुलते रहने का परसाद है कि अब तक जान बची हुई है, नहीं कहीं पता न चलता कि किधर गये। गाँव में इतने आदमी तो हैं, किस पर बेदखली नहीं आयी, किस पर कुड़की नहीं आयी। जब दूसरे के पाँवों-तले अपनी गर्दन दबी हुई है, तो उन पाँवों को सहलाने में ही कुशल है।' और होरी से 'रायसाहबने मुँह पान से भरकर कहा--- तुम हमें बड़ा आदमी समझते हो? हमारे नाम बड़े हैं, पर दर्शन छोटे। गरीबों में अगर ईर्ष्या या वैर है, तो स्वार्थ के लिए पेट के लिए। ऐसी ईर्ष्या और वैर को मैं क्षम्य समझता हूँ। ...मुफ्तखोरी ने हमें अपंग बना दिया है, हमें अपने पुरुषार्थ पर लेश मात्र भी विश्वास नहीं, केवल अफसरों के सामने दुम हिला-हिलाकर किसी तरह उनके कृपा पात्र बने रहना और उनकी सहायता से अपनी प्रजा पर आतंक जमाना ही हमारा उद्यम है।' होरी और रायसाहब की मनःस्थिति एक ही स्तर पर ठहरती है तो ऐसा लगता है कि इससे अंततः स्वतंत्रता आंदोलन की मनःस्थिति ही उद्घाटित हो रही है। स्वाधीनता आंदोलन का नेतृत्व जिन हाथों में था उनके बारे में कुछ सच्चाई प्रेमचंद के गोदान में मेहता को कहे गये रायसाहब के इस संदेश में भी झलकता है 'हम में आत्माभिमान का नाम भी नहीं रहा। हम अपने असामियों को लूटने के लिए मजबूर हैं। अगर हम अफसरों को कीमती-कीमती डालियाँ न दें तो बागी समझे जायँ; शान से न रहें, तो कंजूस कहलाएँ। प्रगति की जरा-सी आहट पाते ही हम काँप उठते हैं; और अफसरों के पास फरियाद लेकर दौड़ते हैं कि हमारी रक्षा कीजिए। हमें अपने ऊपर विश्वास नहीं रहा, न पुरुषार्थ ही रह गया। बस, हमारी दशा उन बच्चों की-सी है, जिन्हें चम्मच से दूध

पिलाकर पाला जाता है, बाहर से मोटे, अंदर से दुर्बल, सत्वहीन और मोहताज।'[14] अफसरों के पास फरियाद लेकर दौड़ने की प्रवृत्ति का प्रभावी होना 1857 के संघर्षशील मिजाज का मारक विपथन नहीं तो और क्या था! इसे स्वीकारना ही होगा कि नेतृत्व उन हाथों में आ गया जिन्हें चम्मच से दूध पिलाकर पाला गया था, जो बाहर से मोटे, अंदर से दुर्बल, सत्वहीन और मोहताज थे। यह ठीक है कि हिंदी प्रदेश में नवजागरण की वैसी लहर तो नहीं आई, करैले पर नीम यह कि 1857 के राजनीतिक संदेश को भी हिंदी प्रदेश अपनी सामाजिक चेतना की अंतर्वस्तु के साथ मिला नहीं सका। इतना ही नहीं भक्ति आंदोलन के साथ सक्रिय लोकजागरण की चेतना का सारांश भी उसके सांस्कृतिक पटल से उतर गया। ऐसे में न सामाजिक सुधार का काम ढंग से शुरू हो सका न जन-राजनीतिक-आर्थिक-सांस्कृतिक प्रक्रिया ही शुरू हो पाई। इस सांस्कृतिक, सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक शून्यता के वातावरण में कम्युनिज्म और समाजवाद के प्रसार को रोकनेवाले कुत्सित राष्ट्रवाद को खुलकर अपना काम करने का मौका मिल गया। कम्युनिज्म और समाजवाद से जुड़े लोग आजादी को अधिकार और हक से जोड़ने में लगे थे। प्रेमचंद के गोदान के राय साहब मेहता से कहते हैं 'मेरे स्वर्गवासी पिता असामियों पर इतनी दया करते थे कि पाले या सूखे में कभी आधा ओर कभी पूरा लगान माफ कर देते थे। अपने बखार से अनाज निकालकर असामियों को खिला देते थे। घर के गहने बेचकर कन्याओं के विवाह में मदद देते थे; मगर उसी वक्त तक, जब तक प्रजा उनको सरकार और धर्मावतार कहती रहे, उन्हें अपना देवता समझकर उनकी पूजा करती रहे। प्रजा का पालन उनका सनातन धर्म था, लेकिन अधिकार के नाम पर वह कौड़ी का एक दांत भी फोड़कर देना न चाहते थे।' हमारे मन में औपनिवेशिकता के अवशेष बचे हुए हैं, इसलिए आज भी हम देखते हैं कि एक तरफ सर्वजन के अधिकार की लड़ाई जारी है तो दूसरी तरफ विशिष्ट-जन का सारा काम पूरी शिष्टता के साथ इसी तरह के मेल-जोल के बल पर बहुत आसानी से संपन्न हो रहा है।

आधुनिक हिंदी साहित्य का संबंध भारतेंदु बाबू हरिश्चंद्र से जगजाहिर है। भारतेंदु युग, द्विवेदी युग, छायावाद, प्रेमचंद साहित्य, प्रगतिवाद और आज तक के हिंदी साहित्य की (मुख्य? नहीं!) मूल्यवान धाराएँ अपने अंतर्तम में आजादी और राष्ट्रीयता के मतलब को 1857 की उसी जन-प्रेरणा के आलोक में समझने और बरतने की कोशिश की सफलताओं-विफलताओं का साहित्य है। हिंदी साहित्य के स्वदेशबोध के बनने और न-बनने में 1857 की राजनीतिक चेतना का गहरा संबंध है। दुहराव के जोखिम पर भी कहना प्रासंगिक है कि 1857 को भक्तिकाल की सांस्कृतिक चेतना की राजनीतिक अभिव्यक्ति के रूप में देखा जाना चाहिए।

आज के हिंदी साहित्य का स्वदेशबोध

आज के हिंदी साहित्य का स्वदेशबोध 'भारतभारती' के स्वदेशबोध से भिन्न प्रकार का है। आज उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण के दौर का स्वदेशबोध 1857 के स्वदेशबोध से बदला हुआ है तो उसके कारणों को समझना होगा। यह सच है कि 1857 और आज के समय में बहुत का अंतर है और होना भी चाहिए। लेकिन 1857 की मूल-प्रेरणाओं के सातत्य का आज के कठिन समय में अनुपस्थित रहना खतरनाक सांस्कृतिक संदेश है। क्या हैं, ये खतरे? भूमंडलीकरण की अवधारणा का 'माया-तत्त्व' बहुत प्रभावशाली है। 'भूमंडलीकरण की प्रक्रिया में बौद्धिक-विभ्रम रचने की जबर्दस्त ताकत है। यह ताकत स्थिति पर प्रतीति का ऐसा मोहक आवरण चढ़ा देती है कि प्रतीति के प्रभाव से मुक्त होकर स्थिति तक पहुँच बनाना बहुत ही टेढ़ा काम हो जाता है। शृँगार इतना मोहक होता है कि सौंदर्य की तरफ ध्यान देने का अवकाश ही नहीं बचता है। शृंगार और सौंदर्य के पीछे दुल्हन के धड़कते दिल तक पहुँचने की तो बात ही क्या!'[15] प्रतीति के मोहक एवं शक्तिशाली आवरण को भेदकर 1857 के सातत्य में भारतीयता और राष्ट्रीयता की तलाश आज बहुत जरूरी है। 'भारतीयता की खोज आज के संदर्भ में दो दृष्टियों से आवश्यक है। स्वाधीनता प्राप्ति के बाद देश में एक सांस्कृतिक अराजकता व्याप्त हो गई है। स्वदेश और स्वदेशी की भावनाएँ, अशक्त होती जा रही हैं। हम बेझिझक पश्चिम का अनुकरण कर अपनी अस्मिता खोते जा रहे हैं। यह प्रवृत्ति एक छोटे, पर प्रभावशाली, तबके तक सीमित है, पर उसका फैलाव हो रहा है। यदि इसे हमने बिना बाधा बढ़ने दिया तो हमें परंपराओं की संभव ऊर्जा से वंचित होना पड़ेगा और हमारी स्थिति बहुत कुछ त्रिशंकु जैसी हो जायेगी। दूसरा कारण और भी महत्त्वपूर्ण है। संस्कृति आज की दुनिया में एक राजनीतिक अस्त्र के रूप में उभर रही है, न्यस्त स्वार्थ, जिसका उपयोग खुलकर अपने उ-द्देश्यों के लिए कर रहे हैं। उन पर रोक लग सकती है, यदि हम निष्ठा और प्रतिबद्धता से भारतीयता की तलाश करें।'[16] यह याद करना आवश्यक है कि आज भी हमारे पास एक निर्मिति के रूप में जो हासिल है वह 'स्थानापन्न राष्ट्रवाद' ही है। आज साम्राज्यवादी आकांक्षा के सर्वग्रासी विस्तार से निबटने के लिए 1857 की प्रेरणाओं से सही राष्ट्रवाद के विकास की जरूरत है। कहना न होगा कि कुत्सित एवं स्थानापन्न राष्ट्रवाद के खतरे के प्रति सावधान रहना भी उतना ही आवश्यक है।

रवींद्रनाथ ठाकुर ने इस ओर ध्यान दिलाते हुए दृढ़तापूर्वक कहा कि 'भारत ने कभी भी सही अर्थों में राष्ट्रीयता हासिल नहीं की। मुझे बचपन से ही सिखाया गया कि राष्ट्र सर्वोच्च है, ईश्वर और मानवता से भी बढ़कर। आज मैं इस धारणा से मुक्त हो चुका हूँ और दृढ़ता से मानता हूँ कि मेरे देशवासी देश को मानवता से भी बड़ा बतानेवाली शिक्षा का विरोध करके

ही सही अर्थों में अपने देश को हासिल कर पाएँगे।'[17] कहना न होगा कि 'समाजवाद' और 'विश्व-मानवतावाद' मिलकर 'राष्ट्रवाद' का विलोम रचते रहे हैं। उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण 'राष्ट्रवाद' को भी तोड़ता है साथ ही 'समाजवाद' और 'विश्व-मानवतावाद' जैसे उसके विलोम को भी तोड़ता है। ऐसे में 'राष्ट्रवाद', 'समाजवाद' और 'विश्व-मानवतावाद' का संयुक्त उपयोग उनिभू की कुत्सित परियोजनाओं के विरुद्ध चलनेवाले सांस्कृतिक संघर्ष में किया जाना रणनीतिक रूप से उचित प्रतीत होता है।

फिर समाजवाद

जब नेहरू जी ने 'दृढ़तापूर्वक समाजवादी ढाँचेवाली समाज-व्यवस्था' की बात कही थी, तो वे जानते थे कि समाजवादी समाज-व्यवस्था में ही प्रतिस्पर्द्धा की जगह सहकारिता की भावना प्रबल हो सकती है। सहकारिता की भावना न हो तो कोई भी समाज-व्यवस्था नहीं टिक सकती है। यह सहज ही अनुभव किया जा सकता है कि जब से और जिस अनुपात में निर्बंध प्रतिस्पर्द्धा को बढ़ावा मिल रहा है तब से और उस अनुपात में जीवन दुर्वह होता जा रहा है। प्रतिस्पर्द्धता उत्पीड़न को जन्म देती है, निर्बंध आर्थिक प्रतिस्पर्द्धता निर्बंध आर्थिक उत्पीड़न को जन्म देती है। 'आर्थिक उत्पीड़न अनिवार्यत: हर प्रकार के राजनीतिक उत्पीड़न और सामाजिक अपमान को जन्म देता है तथा आम जनता के आत्मिक और नैतिक जीवन को निकृष्ट और अंधकारपूर्ण बना देता है। जब तक पूँजी की सत्ता का उन्मूलन नहीं कर दिया जाता तब तक स्वतंत्रता की कोई भी मात्रा उन्हें दैन्य, बेकारी और उत्पीड़न से नजात नहीं दिला सकती !'[18] कहना न होगा कि उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण प्रथमत: निर्बंध आर्थिक प्रतिस्पर्द्धा और अंतत: निर्बंध आर्थिक उत्पीड़न एवं असीमित सामाजिक अपमान को बढ़ावा देता है। इस से समाज-व्यवस्था तहस-नहस हो रही है। जीवन पर पूँजी की वरीयता और वर्चस्व के उन्मूलन के बिना स्वतंत्रता का कोई अर्थ नहीं बन सकता है। सावधानीपूर्वक समझना होगा कि पूँजी की वरीयता और वर्चस्व का विरोध और पूँजी का विरोध एक ही नहीं होता है। साम्राज्यवादी उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण से नहीं, समाजवादी उदारीकरण-निजीकरण-भूमंडलीकरण से ही मानव जाति का भला हो सकता है। यह अलग बात है कि समाजवाद का सपना आज बहुतों के लिए एक राजनीतिक बोझ बन गया प्रतीत होता है। इस अर्थ में आज की सांस्कृतिक चुनौती अधिक बड़ी है कि आज सांस्कृतिक उद्यमों में, अपने राजनीतिक फरीक के अप्रसन्न होने की चिंता किये बिना, समाजवाद के स्वप्न को बचाए रखना है।

साहित्य और संस्कृति में सक्रिय प्रेरणा और प्रभाव को तिल-तंडुल की तरह देखना संभव नहीं होता है। 1857 की प्रेरणा का संबंध आजादी से है। आजादी के बाह्य आवरण में चाहे

जितना अंतर हो उसके मौलिक तत्त्व में अंतर नहीं होता है। स्वाभाविक है कि जब तक सभ्यता अपने को 'पोलिटिकली करेक्ट' नहीं कर लेती है, मनुष्य की वास्तविक आजादी को संभव बनानेवाले समाजवादी पैकेज को साहित्य में जिलाए रखने का सांस्कृतिक साहस जरूरी है। सार्वजनिक साहस का स्रोत समाज में ही होता है। साहित्य और संस्कृति के अन्य उपादानों को अपने समाज से नया साहस हासिल करने का उद्यम करना होगा। समाज से जुड़ाव के ही कारण छापे और वितरण की इतनी सुविधा नहीं होने के बावजूद साहित्य का, कम-से-कम हिंदी साहित्य के पाठ का, प्रसार आज की तुलना में कहीं ज्यादा व्यापक था। कहना न होगा कि उस समय समाज और स्वदेश के संघर्ष की भाषा के रूप में हिंदी विकासमान थी। हिंदी को बाजार और ठिठोली की भाषा के रूप में लघुमित (reduced) करने का दुस्साहस भला कौन कर सकता था उस समय! लेकिन इस समय! इस समय तो हम प्रताड़ित, परेशान और शर्मिंदा हैं क्योंकि, 'दुनिया हमसे पूछती है:/ तो अब तुम भीख क्यों माँगते हो?/ क्यों तुमने कोटि-कोटि जनों को 'अछूत' बना रखा है?/ एक ब्राह्मण दूसरे ब्राह्मण को अपने चौके में क्यों घुसने नहीं देता?/ भंगी क्यों नहीं डोम का छुआ पानी पीता है?/ पूर्वजों के पुण्य का तुम्हारा जादू कहाँ चला गया?/ दुनिया हमसे पूछती है// दुनिया हमसे पूछती है:/ बहुसंख्यक भारतीयों को क्यों नहीं मालूम है/ आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब'।[19]

हम प्रताड़ित, परेशान और शर्मिंदा हैं क्योंकि अपने साहित्य को 1857 के आलोक में पढ़ने का मर्म नहीं समझ पाये। कहना न होगा कि यह प्रताड़ना, परेशानी और शर्मींदगी सबसे ज्यादा हिंदी समाज और साहित्य के हिस्से में है। 'आजादी और राष्ट्रीयता का मतलब' समझने के लिए 1857 को ठीक से समझना होगा।

1. अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति-संग्राम : प्रकाशन संस्थान, सं. 1997
2. अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति-संग्राम : प्रकाशन संस्थान, सं. 1997
3.अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति-संग्राम : प्रकाशन संस्थान, सं. 1997
4. अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति-संग्राम : प्रकाशन संस्थान, सं. 1997
5. अयोध्या सिंह : भारत का मुक्ति-संग्राम : प्रकाशन संस्थान, सं. 1997
6. प्रो. अमर्त्य सेन : आर्थिक विकास और स्वातंत्र्य - अकाल ओर अन्य आपदाएँ (अनु. भवानी शंकर बागला) राज प्रकाशन 2001
7. सुमित सरकार : आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8वीं आवृत्ति -2001
8. भीष्म साहनी: तमस: राजकमल प्रकाशन प्राइवेट लि., द्वितीय आवृत्ति - 1977
9. सुमित सरकार : आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8वीं आवृत्ति -2001
10.सुमित सरकार : आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8वीं आवृत्ति -2001

11.सुमित सरकार : आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8वीं आवृत्ति -2001
12.बंकिम चटर्जी : आनंदमठ (1880): उपक्रमणिका :अनुवाद- हंस कुमार तिवारी: सन्मार्ग प्रकाशन: सं.2, 1977
13.सुमित सरकार : आधुनिक भारत 1885-1947 : राजकमल प्रकाशन, 8वीं आवृत्ति -2001
14.प्रेमचंद: गोदान (1936) : सरस्वती प्रेस
15.प्रफुल्ल कोलख्यान : भूमंडलीकरण के दौर में : स्वाधीनता - शारदीया 2006
16.प्रो. श्यामाचरण दुबे : समय और संस्कृति : भारतीयता की तलाश
17.रवींद्रनाथ ठाकुर: भारत में राष्ट्रीयता -1917: सामाजिक क्रांति के दसतावेज-1, सं. डॉ. शंभुनाथ, वाणी प्रकाशन -2004
18.लेनिन : समाजवाद और धर्म : धर्म ओर लेनिन : संग्रहीत रचनाएँ खंड -10 (हिंदी पाठ : नेशनल बुक एजेंसी)
19.नागार्जुन रचनावली-2: हुकूमत की नर्सरी: खिचड़ी विप्लव देखा हमने, 1975

इस सामग्री के उपयोग के लिए लेखक की सहमति अपेक्षित है।
सादर, प्रफुल्ल कोलख्यान